

जनजातीय समाजों में स्त्री की स्थिति और संघर्ष चेतना

डॉ. नांग सुलिना चाउतांग

TGT (हिन्दी), पासीघाट ईस्ट सियांग, अरुणाचल प्रदेश

सारांश :

हिन्दी के रचनाकारों ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आदिवासी-जनजातीय स्त्रियों की स्थिति और उनके संघर्षशील पहलुओं को संवेदनात्मक धरातल पर अभिव्यक्ति दी है। जनजातीय समाजों में पहले स्त्री का स्थान परिवार की मुखिया के रूप में होता था। पुरुष की बराबरी में अपनी जाति, परिवार, युद्ध, जीवन के संघर्ष, आजीविका के प्रश्नों से सम्बन्धित प्रत्येक गतिविधियों में स्त्री सक्रिय सहयोग प्रदान करती थी। पर जैसे-जैसे जनजातीय समाजों का विकास होता गया और वे अन्य समाजों के सम्पर्क में आते गए तो परिवार की मुखिया के रूप में निर्धारित स्त्री का महत्त्व कम होता गया। अब बहुतांश जनजातियों में स्त्री का महत्त्व परिवार की मुखिया के रूप में नहीं है, बल्कि उसे दायम दर्जे का स्थान प्राप्त हो चुका है। जिस तरह गैर आदिवासी समाजों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने अपनी सुविधा के अनुसार नियम-कानून बनाकर स्त्रियों को दायम दर्जे पर पहुंचाया है। ठीक उसी तरह जनजातियों के पुरुष वर्ग ने भी धर्म और जाति पंचायतों के नियम निर्धारित किये हैं। प्रस्तुत आलेख में सभी प्रमुख उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास के माध्यम से जनजातीय समाजों में स्त्री की स्थिति और उनकी संघर्ष चेतना को दिखाने का प्रयास किया है।

प्रमुख शब्द— सामाजिक हैसियत, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, जनजातीय स्त्री, आजीविका के प्रश्न।

परिचय

जनजातियों के पुरुष वर्ग की सामाजिक हैसियत किस तरह वर्चस्व की रही है और उनके वर्चस्व के कारण स्त्रियों का दर्जा कैसे दायम हुआ, इसे प्रत्येक रचनाकार ने दर्शाने की कोशिश की है। गोंड जनजाति में पहले स्त्री को बराबरी का दर्जा प्राप्त था। समय के साथ जैसे-जैसे इनका सम्पर्क बाहरी लोगों से हुआ तो उनकी देखा-देखी इनमें भी स्त्री के लिए बंधनों का दायरा बनता गया। 'जंगल के फूल' में इसे महुआ के कथनों से उजागर किया गया है। महुआ कहती है— "क्या करें, मेरी साइगुती। हम औरत की जात कर ही क्या सकती हैं! मरदों ने मिलकर अपनी मरजी से कानून बना लिए हैं और उन्हें समाज का जामा पहना दिया है। जब कभी हम विरोध करती हैं, वे हंसते हुए कह देते हैं—मेरी अच्छी पड़ेगी, तेरा दर्द समझता हूं पर क्या करूं, समाज जो कहता है। और हम बूढ़े हैं,

दुनिया देखी है। सब कुछ तो तेरी भलाई के लिए ही करते हैं। मैं तो सुनते-सुनते थक गई हूँ जलिया। मैं सोचती हूँ यह समाज भी कैसा है जहाँ भेड़िये बसते हैं। तू तो जानती है पाली का किस्सा! झिरिया की कहानी।¹ यहाँ पुरुष सत्ता द्वारा बनाये हुए कानून के प्रति एक आदिवासी स्त्री का प्रतिरोधी स्वर मुखर है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने ईश्वर और धर्म की दुहाई देकर आदिवासी स्त्री की स्वतंत्रता का हनन किया है। इसके बारे में जलिया अपनी सखी महुआ की व्यथा को महसूस करते हुए घोटुल के सरदार बने अपने प्रेमी झालर सिंह को मार्मिक जवाब देती है। झालर जब महुआ को लेकर कहता है कि, 'औरत के मन होता ही नहीं।' तब जलिया कहती है, "यानी औरत मुर्दा होती है! तुम मरदों ने उसके मन को दीमक की तरह खा डाला है। लिंगों की दुनिया में औरत-मरद का भेद नहीं रे, झालर! भेदभाव की ये दीवारें तुम्हारी बनाई हैं। तुम हाथ में डुगडुगी लेकर बन्दर की तरह औरतों को नचाते हो और जब औरत अपना ढोल पीटना चाहती है तो तुम ढोल की दरांत ढीली कर देते हो और कहते हो, भगवान ने लिखा है कि तुम ढोल नहीं पीट सकतीं।"²

'पिंजरे में पन्ना' उपन्यास में गाड़िया लुहारों के पितृसत्तात्मक समाज की तस्वीर उभरती है। पितृ सत्ता के वर्चस्व का स्वरूप जाति पंचायत में स्पष्ट दिखाई देता है। जिसमें स्त्रियों को नैतिकता के जातीय नियमों के आधार पर कठोर सजा दी जाती है। उपन्यास की स्त्री चरित्र दीवी को विवाह से पहले नैतिकता के मानक तोड़ने की वजह से सजा दी हुई है। सजा भी ऐसी कि पंचायत वालों ने उसके पीठ पर आग में त्रिशूल को लाल करके निशान बनाया था। साथ ही माफीनामे के तौर पर कुछ रुपये दंड भी दिया था। उपन्यास का यह हृदय विदारक प्रसंग जाति पंचायतों में पुरुष के वर्चस्व के चलते स्त्रियों के साथ होने वाले अन्यायपूर्ण व्यवहार का प्रमाण ही है। इन जाति पंचायतों के अतिरिक्त तथाकथित सभ्य समाज के जमींदारों एवं पुलिस प्रशासन के द्वारा भी गाड़िया लुहारों की स्त्रियों को शोषित-उत्पीड़ित किया जाता है।

'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में लेखक ने करनट स्त्रियों की नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि उन्होंने यथार्थ के धरातल पर यह बताने का प्रयत्न किया है कि सारा खानाबदोश समाज ही शोषित और उत्पीड़ित है। न इनके सामाजिक नियम शाश्वत हैं न ही नैतिकता के बंधन शाश्वत रहे हैं। इनका समूचा जीवन सामाजिक विसंगतियों से प्रभावित रहा है। मध्ययुगीन समय से गांव की संरचना में बड़े जमींदार और ठाकुर अपने वर्चस्व की मानसिकता में अर्थाभाव और गरीबी से मजबूर हुई करनट स्त्रियों का उपभोग करते रहे हैं। ठाकुरों की शारीरिक हवस के कारण एक परम्परा यह चल पड़ी थी कि करनटों की प्रत्येक लड़की जब जवान होती थी, तो पहले उसे ठाकुरों के पास रात बितानी पड़ती थी। "करनट जाति की प्यारी और कजरी ने इसी परिवेश में जन्म लिया

था। नैतिकता और अनैतिकता का इन्हें कोई ज्ञान नहीं था। इन्हें केवल पेट भरने का ज्ञान है। पतिव्रत धर्म की शिक्षा न तो इन्हें मां से मिली है, न दादी से। प्यारी, चिरोली ब्राह्मण से एक भेली गुड़ पाने की आशा से ही मांसल सम्बन्ध जोड़ लेती है। इकन्नी-दुअननी लेकर ठाकुरों की वासना की प्यास बुझाती है और अन्त में उनसे बदला लेने के लिए रुस्तमखां की रखैल बन जाती है। वह तन से अशुद्ध होने पर भी मन से शुद्ध थी।³ प्यारी के चरित्र में कोई उलझाव नहीं, दुराव नहीं। उसकी मान्यता है कि नाता जोड़ना और बात है, मन की होके रहना और बात है।

‘रक्तयात्रा’ उपन्यास में नागा स्त्री का परिवार में विशेष स्थान दिखाया है। यह अपनी जाति के रीति-रिवाजों को पूरा करने में अग्रणी भूमिका निभाती है। लेकिन नागाओं के कुछ विधि-विधानों में उसे दोगुना दर्जे पर ही रखा जाता है। इस सन्दर्भ में सेखेनी की रस्म पूरी करने के दौरान थेका-की के समय स्त्री को घर से बाहर रखने का चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है। लेखक लिखते हैं, “धार्मिक रिवाज के मुताबिक केदिलिनो के घर सेखेनी गेन्ना रस्म पूरा करने आता है। थेका-की के लिए एक बड़े घर की जरूरत थी। जिस घर में सेखेनी की रस्में अदा की जाती थीं उसे थेका-की नाम दिया जाता था। केदिलिनो का ही घर गांव में सबसे बड़ा था और गेन्ना के लिए हर तरह उपयुक्त था। थेका-की में स्त्री का प्रवेश वर्जित होता रस्म के दिनों में। सनियू ने अलग घर बसा ही लिया था। मां और क्रेलेनु वहां रह सकती थी।”⁴

भारतीय समाज में जनजातीय महिलाओं का जीवन अत्यन्त विषादपूर्ण है। वे एक ओर अपनी जाति के भीतर पुरुष वर्ग की अधिसत्ता में रहने को मजबूर हैं। वहीं दूसरी ओर तथाकथित सभ्य समाज इन्हें उपभोग की वस्तु मानता है। जनजातीय स्त्रियां पितृसत्तात्मक समाज में कठपुतली की तरह हैं जो अपने जीवन में अपमान, शारीरिक शोषण, मानसिक उत्पीड़न, घृणा, अन्याय-अत्याचार आदि को सहती हैं। उनके जीवन से आघातों को सहने और मजबूरी में जीने की सीमाएं कभी खत्म नहीं होती। ‘अल्मा कबूतरी’ उपन्यास में लेखिका ने बताया है कि जिस तथाकथित सभ्य समाज के लोगों की जमीन पर कबूतरा जनजाति का बसेरा है, वे लोग इनकी औरतों पर अपना अधिकार समझते हैं। इसी अधिकार भावना से तथाकथित सभ्य समाज के चरित्र मंसाराम ने अपने खेत पर स्थित कबूतरा समाज की कदमबाई पर अपना हक स्थापित किया है। उसने कदमबाई के पति जंगलिया को मरवाने का षड्यंत्र करके उसे अपनी हवस का शिकार बनाया था। जिसका कदमबाई जानते हुए भी विरोध नहीं कर पाती। इसी उपन्यास में मंसाराम के जैसे ही सूरजभान, श्रीराम शास्त्री, केहर सिंह, जोधा सिंह आदि चरित्र हैं जो कबूतरा स्त्रियों की कमजोरियां और मजबूरियों का फायदा उठाकर यौन शोषण करते हैं। इनके उच्च जातीय अहं और वर्चस्ववादी पुरुषार्थ को नकारने का साहस कबूतरा स्त्रियां नहीं कर पाती। किसी तरह जीवित रहने के लिए उन्हें अपने आप से

समझौता करके कज्जाओं के बिस्तर की शोभा बनना उनकी मजबूरी बन जाती है। अगर वह ऐसा नहीं करती तो उनका बसेरा ही खत्म किया जाता है। पूरी बस्ती को जलाया जाता है और क्रूर तरीके से अन्याय-अत्याचार किये जाते हैं। पुलिस प्रशासन भी सवर्ण जातियों का हितैषी बनकर पेश आता है।

‘अल्मा कबूतरी’ में कदमबाई, भूरी और अल्मा यह स्त्री चरित्र महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इन स्त्री चरित्रों के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा ने जनजातीय स्त्रियों की अस्मिता और संघर्ष चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति की है। उपन्यास की चरित्र ‘अल्मा’ में कबूतरा स्त्री के पारंपरिक लक्षणों के साथ-साथ आधुनिक सभ्यता के अनुरूप परिवर्तित विचार भी मौजूद हैं। वह अपने जीवन में आनेवाली आपत्तियों का डटकर मुकाबला करती है। अपहरण और जीवन में आये भटकाव के बावजूद हार नहीं मानती। जीवन के कठिन प्रसंगों में भी संघर्ष की आग को बुझने नहीं देती। ‘लेखिका ने अल्मा के चरित्र को परिपूर्ण बनाने हेतु कोई कोताही नहीं बरती है। पर इसमें लेखिका को जो सफलता मिली है, उसी के समानांतर अल्मा के चरित्र की स्वाभाविकता भी बाधित हुई है। उपन्यास के कई प्रसंगों में अल्मा कठपुतली-सी बनी है।’⁵ जिसका तथाकथित सभ्य समाज के पुरुष चरित्रों द्वारा कबूतरी होने के कारण शारीरिक हवस से लेकर राजनीतिक दावपेंच को साधने के लिए उपयोग किया गया है।

भगवानदास मोरवाल ने ‘रेत’ उपन्यास के जरिये स्त्री की नैतिकता और अस्मिता के समकालीन पहलुओं को उजागर किया है। वे स्त्री नैतिकता के सवाल को आजादी के बाद बदलती हुई सामाजिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उठाते हैं। आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता की अवधारणा में उच्चकुलीन स्त्रियों द्वारा बड़े-बड़े शहरों में दैहिक मुक्ति के इर्द-गिर्द होनेवाली स्त्री विमर्श की चर्चा को छद्म साबित करते हैं। इसकी जगह सामाजिक जीवन में संघर्षरत निम्न स्तरीय स्त्रियों के आत्मसम्मान, जागृति और अस्मिता से लैस होने और प्रत्यक्ष विद्रोह किये जाने का विकल्प प्रस्तुत करते हैं। वे ‘कंजर’ स्त्रियों के जीवनानुभवों से स्त्री विमर्श का वह आख्यान प्रस्तुत करते हैं, जहां समाज का वास्तविक यथार्थ छिपा हुआ है। कंजर स्त्रियों का यथार्थ यह है कि वे सामाजिक, आर्थिक और शारीरिक शोषण से संतप्त होकर संघर्ष की धार को बरकरार रखती हैं। किसी के भुलावे में आकर आर्थिक प्रलोभन अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त करने हेतु समझौतावादी व्यवहार नहीं करती। जहां कहीं उन्हें लगता है कि कोई उनकी अवमानना कर रहा है, अन्याय-अत्याचार किए जा रहे हैं, उस समय तुरन्त प्रतिरोध किया जाता है। उपन्यास के एक प्रसंग में जब गांव के सवर्ण और पुलिसकर्मी कंजरो की बस्ती को हटाना चाहते हैं, तब तिबारे पर हुए फसाद के दौरान कमला बुआ डंके की चोट पर दरोगा से कहती है कि, “दरोगाजी, जैसे ये इज्जतदार अपनी मेहनत बेचते हैं न, वैसे ही हम अपनी देह बेचते हैं। हमारे लिए तो हमारी यह देह ही हमारी मेहनत है। हमारे लिए तो

यह दूसरों की तरह आम काम है। आगे जब सरपंच कहता है कि, देखा जनाब, धंधे को तो यह औरत मेहनत बता रही है। तब वह सरपंच पर व्यंग कसती है, क्यों, बिना मेहनत के हो जाता है यह काम! जाके पूछ अपनी जोरु से किती मेहनत लगती है इस काम में। वाह, तुम्हारी मेहनत, मेहनत और हमारी मेहनत धंधा। तुम कहलाओ कमेरे और हम कहलाएं रामजनी। यह कहां का न्याय हुआ दरोगा जी⁵ समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री को मात्र उपभोग की वस्तु मानकर भले ही परिचालित होती हो पर कंजर स्त्री की देह बिना उसकी मर्जी के खिलाफ कोई भोग नहीं सकता। वे अपनी अस्मिता के लिए जान लड़ा देती हैं। तभी तो रुक्मिणी यह कहने से चूकती नहीं कि, “कैद में! मरजी से तो वैद्यजी इस रुक्मिणी को मर्द तो क्या जिनावर भी रौंद जाए पर बिना मरजी के, आंख तो उठा जाए कोई माना गुरु की सौं वैद्यजी, खंते से आंख निकालके हाथ पर रख दूंगी। आखिर इस कंजरी की भी अपनी कोई आबरू है।”⁷ इसी तरह कमला बुआ का आजाद देश में अपने शोषण को लेकर विद्रोही स्वर में दरोगा को आहत करना भी जागृति का प्रमाण बन जाता है। वह कहती है, “दरोगा जी, एक बात कहूं। इस मुलक में हम तो आज भी वैसे ही हैं, जैसे फिरंगियों के जमाने में थे। पहले फिरंगियों और उनके दलाल-पिड्डुओं ने हमारा जीना मुहाल कर रखा था, अब इन देशी फिरंगियों ने।”⁸ अतः स्पष्ट है कि लेखक ने अपने विचारों और तर्कों के आधार पर कंजर जनजाति की स्त्रियों के माध्यम से स्त्री मुक्ति और स्त्री अस्मिता के विद्रोही स्वर मुखर करने का साहस किया है।

आधुनिक समाज में पद, पैसा और प्रतिष्ठा के आधार पर किसी भी व्यक्ति की हैसियत एवं उसकी सभ्यता को निर्धारित करने का प्रचलन रहा है। समाज में जो व्यक्ति विकास की गतिविधियों में आगे निकल चुका है उसे सभ्य मानने और जो पिछड़ा हुआ है उसे असभ्य मानने की मानसिकता है। इसी मानसिकता के चलते सभ्य कहलाने वाला उच्च वर्ग जनजातीय समाजों के प्रति नकारात्मक रवैया अपनाता है। तथाकथित सभ्य समाज द्वारा आदिवासी एवं खानाबदोश जनजातियों के व्यक्ति की पहचान, आत्मसम्मान और अस्मिता को अस्वीकृत किया जाता है। तथाकथित सभ्य समाज इनके साथ मानवीय गरिमा से युक्त भाईचारे का व्यवहार नहीं कर पाता। उल्टे उन्हें बहिष्कृत और उपेक्षा के नजरिये से देखता है। तथाकथित सभ्य समाज उनके सामाजिक और आर्थिक शोषण में सक्रिय रहता है। पितृसत्तात्मक मानसिकता से युक्त तथाकथित सभ्य समाज खानाबदोश जातियों की स्त्रियों को हमेशा उपभोग की वस्तु मानकर अन्याय-अत्याचार करता है। तथाकथित सभ्य समाज की इस तरह की शोषणकारी मानसिकता और दोयम दर्जे के व्यवहार आदि का यथार्थ ‘कब तक पुकारूं’, ‘शैलूष’ तथा ‘अल्मा कबूतरी’ आदि उपन्यासों में अभिव्यक्त हुआ है।

‘कब तक पुकारूँ’ उपन्यास में लेखक यह दिखाते हैं कि, किस तरह सुखराम, प्यारी और कजरी के प्रति गांव वाले दोगले दर्जे का व्यवहार करते हैं। गांव में सुखराम को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखा जाता। उसे यह अहसास कराया जाता है कि वह जन्मजात अपराधी है। गांव में तथाकथित सभ्य समाज के प्रतिनिधि चरित्र निरोत्ती पण्डित, दरोगा रुस्तमखां, बांके, पेशकार, ठाकुर हरनाम तथा चरणसिंह आदि सब करनट स्त्रियों को रंडी के नजरिये से देखते हैं, परन्तु यहीं लोग अपनी मर्जी से इन्हीं स्त्रियों के साथ शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं। करनटों को उनकी जाति और पेशे के कारण समाज से बहिष्कृत करते हैं। तथाकथित सभ्य समाज के इस तरह के दोहरे व्यवहार और उपेक्षापूर्ण नजरिये को लेकर सुखराम व्यथित होता है। वह ईश्वर को संबोधित करते हुए कहता है कि, “तू देख रहा है? यह है तेरी दुनिया! ये लोग जाति के बल पर, डंडे के बल पर गरीबों की खाल खेंचते हैं। इनका घमंड सबको कुचलकर रखता है। यह नफरत के बल पर जीते हैं, ताकि दूसरों का घर बरबाद कर सकें।”⁹ स्पष्ट है कि अभिजात वर्ग की जो नैतिकता है वह भेदभाव की मानसिकता से ग्रसित है। वे सामाजिक जीवन में अपनी प्रतिष्ठा का प्रदर्शन करते हैं और व्यवहार में छल-कपट के माध्यम से करनटों का शोषण करते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में उच्च जातीय समाज और खानबदोश नटों के बीच स्थित परस्पर विरोधी पहलुओं को ‘शैलूष’ उपन्यास में दर्शाया गया है। उपन्यास के चरित्र घुरफेंकन तिवारी उच्च जातीय समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके द्वारा अपनी वर्ण श्रेष्ठता के अहं में दलित एवं नटों को उपेक्षित किया जाता है। जबकि शोषण से मुक्ति और सामाजिक न्याय की अपेक्षा में जुड़ावन नट का कबीला संघर्ष करता है। संघर्ष की इन स्थितियों में आर्थिक रूप से कमजोर नटों और दलितों को न्याय नहीं मिल पाता। शासन-प्रशासन के अधिकारी भी नटों के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण रखते हैं।

‘अल्मा कबूतरा’ में आजादी के बाद कबूतरा जनजाति द्वारा परम्परागत पेशे और व्यवसायों को नकारने का परिवर्तनवादी स्वर अनुमोदित है। उपन्यास की अन्तर्वस्तु में इस परिवर्तन को भूरी, रामसिंह, अल्मा तथा राणा इन चरित्रों के माध्यम से चित्रित किया गया है। परन्तु इन चरित्रों के प्रति उच्च जातीय समाज का दृष्टिकोण नकारात्मक ही है। उच्च जातीय समाज अपने आर्थिक-सामाजिक वर्चस्व के चलते जोर-जबरदस्ती से कबूतरा स्त्रियों के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने की चाहत रखता है। इसे उच्च जातीय समाज के चरित्र मंसाराम, केहरसिंह, सूरजभान तथा राजनेता श्रीराम शास्त्री आदि की उपभोगवादी मानसिकता और चारित्रिक प्रवृत्तियों के द्वारा उजागर किया गया है। ‘मंसाराम ने कदमबाई के साथ धोखे से शारीरिक सम्बन्ध बनाये थे’,¹⁰ तो ‘श्रीराम शास्त्री को अल्मा के देह की गंध ने आकर्षित किया था।’¹¹ कबूतरा जाति की विडम्बना यह है कि वे गरीबी की

अवस्था में मजदूरी करना चाहे तो भी उच्च जातीय समाज उन्हें घृणा, तिरस्कार और गुनाहगार के नजरिये से देखता है। लेखिका उपन्यास में कदमबाई के बीते हुए दिनों को उद्धृत करते हुए लिखती है, “भारी गगरी सा पेट लेकर मोँठ से महुआ लाना आसान नहीं था, पर रोजी-रोटी का सवाल था। दो जीवों का आहार जुटाना था। भूख ने बेशर्मी पैदा कर दी बस रुकी खड़ी थी, मैं चढ़ना चाहती थी। पहली सीढ़ी पर पाँव ही रखा कि बस में से आवाजें उठीं, कबूतरी है, कबूतरी! गाड़ी में बच्चा पैदा कर देगी। बच्चा साला रोएगा नहीं, जेबे झाड़ेगा। अरे नहीं, नहीं, सब ढोंग है। घाघरा खुलवाओ। पेट पर कपड़ा बांध रखा होगा। बड़ी प्रपंचिन औरतें होती हैं यह।”¹² इस तरह कबूतरा समाज सामाजिक अवमानना और बहिष्कृत किये जाने की वेदना को झेलने के लिए अभिशप्त रहता है।

निष्कर्षतः जनजातीय समाजों में विभिन्न जनजातियों की स्त्रियों की स्थिति और उनकी संघर्ष चेतना को सभी उपन्यासकारों ने अपने-अपने तरीके से दिखाने का प्रयास किया है।

संदर्भ सूची

1. राजेन्द्र अवस्थी, जंगल के फूल, पृ. 199
2. वही, पृ. 175
3. डॉ. लाल साहब सिंह, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ. 186
4. कृष्णचन्द्र शर्मा ‘निक्खु’, रक्तयात्रा, पृ. 90
5. डॉ. गिरीश काशिव, अंतिम दशक के आंचलिक उपन्यासों में नारी विमर्श आलेख से
6. भगवानदास गोरवाल, रेत, पृ. 144
7. वही, पृ. 112
8. वही, पृ. 144
9. रांगेय राघव, कब तक कॉल, पृ. 267
10. मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ. 11
11. वही, पृ. 301
12. वही, पृ. 32